National Research Journal of Social Sciences
Volume-10, Issue-1, January-June 2025
PP: 97-106
ISSN: 2348-473X
Peer Reviewed & Refereed Journal (IF: 6.74)
Journal Website: www.nrjss.in

अथर्ववेदीय भैषज्य सूक्तों में रोग निवारण की दैहिक और मानसिक अवधारणा का विवेचन

डॉ कमलेश कमल

पीजीटी, प्रोजेक्ट गर्ल्स +2 स्कूल, बेनीपट्टी

सार

यह शोध-पत्र अथर्ववेदीय भैषज्य सूक्तों में रोग-निवारण की दैहिक तथा मानसिक अवधारणाओं का पाठ-आधारित विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अध्ययन का केंद्र "भेषज/भैषज्य" की वैदिक संकल्पना है, जहाँ उपचार को केवल औषधि-प्रयोग के रूप में नहीं, बल्कि मंत्र, औषधि/वनस्पति, अनुष्ठान तथा रक्षा-प्रार्थना के संयुक्त उपचार-तंत्र के रूप में देखा गया है। चयनित सूक्तों के मंत्रों में ज्वर, कृमि, क्षय/यक्ष्मा, त्वचा-रोग, ग्रैव्य/उपपक्ष्य रोग-लक्षणों तथा दुष्वप्न, मनःक्षोभ, भय-चिन्ता और उन्माद/मनोरोग-सम्बद्ध संकेतों की व्याख्या करते हुए यह दिखाया गया है कि अथर्ववेद रोग को एक निरंतरता (दैहिक–मानसिक) के भीतर समझता है। विश्लेषण यह भी स्पष्ट करता है कि "मनस्/हृदय/चित्त" के साथ "प्राण/बल/आयु" के संकेत रोग-निवारण में केवल रूपक नहीं, बल्कि उपचार-भाषा के अभिन्न अवयव हैं। सीमित और सावधान तुलनात्मक व्याख्या द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि भैषज्य सूक्तों में मनोदैहिक संकेत आधुनिक शब्दावली से आंशिक साम्य रखते हुए भी अपने वैदिक कर्मकाण्डीय–काव्यात्मक ढाँचे में स्वायत्त अर्थ-व्यवस्था रखते हैं।

प्रमुख शब्द: अथर्ववेद, भैषज्य, भेषज, रोग-निवारण, ज्वर, कृमि, यक्ष्मा, दुष्वप्न, उन्माद, मनोदैहिक, मंत्र-चिकित्सा, औषधि, वनस्पति, रक्षा-प्रार्थना

भूमिका

अथर्ववेदीय परंपरा में "रोग" केवल शरीर की विकृति भर नहीं है, न ही वह केवल अमूर्त भय या अनिष्ट की छाया के रूप में सीमित है। भैषज्य सूक्तों की भाषा में रोग एक ऐसी अनुभूति-घटना है जो शरीर, मन, वाणी, श्वास, इन्द्रिय और सामाजिक जीवन, सभी को प्रभावित करती है। इसी कारण भैषज्य सूक्तों की चिकित्सा-भाषा बहुस्तरीय है, जहाँ औषधि/वनस्पति-संकेत, मंत्रोच्चार, अनुष्ठान-क्रिया और रक्षा-प्रार्थना एक साथ उपस्थित होते हैं (व्हिटनी, 1905, पृ. 1–25; ब्लूमफील्ड, 1897, पृ. 1–18; ज़िस्क, 1991, पृ. 19–55)। इस अध्ययन में समस्या-विवरण यह है कि आधुनिक अध्ययनों में अथर्ववेद की चिकित्सा-परंपरा को प्रायः या तो "औषधि-केंद्रित आदिम चिकित्सा" के रूप में सीमित कर दिया जाता है, या फिर उसे केवल "मंत्र-आधारित जादुई उपचार" कहकर दैहिक–मानसिक समन्वय की सूक्ष्मता खो दी जाती है (फ़िलियोज़ा, 1964, पृ. 31–48; मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 105–132)। अतः इस शोध का उद्देश्य भैषज्य सूक्तों में रोग-

© Copyright @ Authors

ISSN: 2348-473X
Peer Reviewed & Refereed Journal (IF: 6.74)
Journal Website: www.nrjss.in

निवारण की दैहिक और मानसिक अवधारणाओं को मंत्र-पाठ के आधार पर पृथक-पृथक और फिर संयुक्त रूप में स्थापित करना है।

इस अध्ययन के मुख्य शोध-प्रश्न हैं कि भैषज्य सूक्तों में दैहिक रोगों के लक्षण और कारण-मीमांसा किस प्रकार व्यक्त होती है, मानसिक व्याकुलता और मनोरोग-सम्बद्ध संकेत किन पदों तथा क्रियाविधानों से उभरते हैं, और दैहिक–मानसिक निरंतरता का वैदिक "संयुक्त उपचार-मॉडल" किस संरचना में निर्मित होता है (स्टाल, 1989, पृ. 92–120; एमरी, 2015, पृ. 201–230)। अध्ययन का औचित्य इस तथ्य में है कि अथर्ववेदीय भैषज्य सूक्तों का पाठ-आधारित विवेचन वैदिक चिकित्सा-दृष्टि के भीतर मन और शरीर के संबंध को ऐतिहासिक-भाषाशास्त्रीय तथा वैचारिक दोनों स्तरों पर स्पष्ट कर सकता है, और समकालीन "मनोदैहिक" शब्दावली के उपयोग में आवश्यक सावधानी का मानक भी दे सकता है (ज़िस्क, 1991, पृ. 56–88; विट्ज़ेल, 1997, पृ. 257–289)।

स्रोत-परिचय और पाठ-सीमा

वैदिक शब्द-क्षेत्र में "भेषज/भैषज्य" का आशय केवल द्रव्य-औषधि से नहीं, बल्कि "रोग-शमन करने वाली शक्ति/उपाय" से है, जिसमें औषधि, मंत्र, मणि/ताबीज, जल, अग्नि, तथा देव-आह्वान, सब सम्मिलित हो सकते हैं (व्हिटनी, 1905, पृ. 12–18; ब्लूमफील्ड, 1897, पृ. 19–27; फ़िलियोज़ा, 1964, पृ. 49–66)। भैषज्य सूक्तों की "पहचान/सीमा" का प्रश्न इसलिए जटिल है कि अथर्ववेद में अनेक सूक्त ऐसे हैं जो किसी एक रोग (ज्वर, कृमि, किलास, यक्ष्मा, विष्कन्ध, व्रण) पर केंद्रित हैं, और अनेक ऐसे हैं जो रक्षा-प्रार्थना, दुष्वप्न-निवारण, या "उन्माद/मनोरोग-शमन" जैसे मानसिक पक्षों को उपचार-प्रक्रिया में जोड़ते हैं (ब्लूमफील्ड, 1899, पृ. 113–146; ज़िस्क, 1991, पृ. 89–117)। इस शोध में "भैषज्य" को एक कार्यात्मक मानदंड से ग्रहण किया गया है: वे मंत्र/सूक्त जिनमें रोग-नाश, भेषज-प्रयोग, औषधि/वनस्पति-संकेत, या मन–देह शमन का स्पष्ट लक्ष्य हो।

पाठ-परंपरा की दृष्टि से अथर्ववेद की शौनकीय संहिता व्यापक रूप से उद्धृत और अध्ययन की दृष्टि से मानक रही है; साथ ही पैप्पलाद संहिता के पाठ-प्रमाण भी चिकित्सा-सम्बद्ध सामग्री के इतिहास-निर्णय में महत्त्वपूर्ण माने गए हैं (भट्टाचार्य, 1997, पृ. 1–40; विट्ज़ेल, 1997, पृ. 260–275; लुबोत्स्की, 2002, पृ. 141–152)। इस शोध में मंत्र-पाठ के लिए मुख्यतः शौनकीय पाठ-आधारित संदर्भ-संख्या (काण्ड/सूक्त/मंत्र) का उपयोग किया गया है, तथा व्याख्या में अनुवाद/टीका के लिए व्हिटनी, ब्लूमफील्ड और मान्य भारतीय व्याख्याकारों की सामग्री का सहारा लिया गया है (व्हिटनी, 1905, पृ. 201–240; ब्लूमफील्ड, 1897, पृ. 210–238; त्रिवेदी, 1990, पृ. 55–88)। पाठ-सीमा के रूप में इस लेख में चयनित सूक्तों के भीतर दैहिक रोगों (ज्वर, कृमि, किलास, यक्ष्मा/क्षय, ग्रन्थि/फुंसियाँ) तथा मानसिक रोग-चिह्नों (दुष्वप्न, मनःक्षोभ, उन्माद) के संकेतों का केंद्रित विश्लेषण किया गया है।

© Copyright @ Authors

ISSN: 2348-473X
Peer Reviewed & Refereed Journal (IF: 6.74)
Journal Website: www.nrjss.in

सैद्धान्तिक ढाँचा

दैहिक रोग-परिकल्पना के स्तर पर भैषज्य सूक्त रोग को लक्षणों के रूप में पहचानते हैं, ताप/ज्वर, क्षय/क्षीणता, कृमि-सम्बद्ध पीड़ा, त्वचा-विकार, ग्रन्थि/गण्डमाला, और शरीर में "प्रवेश" करने वाले उपद्रव। इन संकेतों के साथ "कारण-मीमांसा" के दो मुख्य ढाँचे उभरते हैं। एक ढाँचा "द्रव्य/प्राकृतिक" है, जहाँ औषधि, वनस्पति और जल/अग्नि-सम्बद्ध उपचार सक्रिय हैं (ज़िस्क, 1991, पृ. 118–154; मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 133–168)। दूसरा ढाँचा "अधिदैविक/रक्षात्मक" है, जहाँ रोग को यातु/रक्षस्, दुष्ट-स्वप्न, शाप, या अमंगल-प्रभाव के रूप में भी देखा जाता है और मंत्र-रक्षा का कार्य रोग-शमन की भाषा में आता है (ब्लूमफील्ड, 1897, पृ. 239–260; स्टाल, 1989, पृ. 121–150)।

मानसिक अथवा मनोदैहिक संकेतों के स्तर पर अथर्ववेद में "मनस्" केवल विचार का केंद्र नहीं, बल्कि स्थैर्य–व्याकुलता का क्षेत्र है। दुष्वप्न, भय, चिन्ता, और उन्माद जैसे शब्द/संकेत मानसिक विक्षोभ को रोग-क्षेत्र के भीतर लाते हैं, और इन्हें शांत करने के लिए "भेषज" शब्द का प्रयोग स्वयं मानसिक उपचार की वैदिक स्वीकृति का प्रमाण बनता है (व्हिटनी, 1905, पृ. 350–365; त्रिवेदी, 1990, पृ. 89–112)। उपचार-सिद्धान्त के रूप में तीन घटक बार-बार उभरते हैं। पहला, मंत्र, जो निदान, निषेध, निष्कासन और शमन का भाषिक उपकरण है (ब्लूमफील्ड, 1899, पृ. 147–176)। दूसरा, औषधि/वनस्पति/द्रव्य, जो "भेषज" के रूप में या तो प्रत्यक्ष द्रव्य है या द्रव्य-शक्ति का प्रतीक (ज़िस्क, 1991, पृ. 155–188)। तीसरा, अनुष्ठान/रक्षा-प्रार्थना, जो सामाजिक–धार्मिक ढाँचे में रोग-निवारण को "सुरक्षा" और "कल्याण" की व्यापक अवधारणा से जोड़ता है (फ़िलियोज़ा, 1964, पृ. 67–90; एमरी, 2015, पृ. 231–260)। इस ढाँचे में "अनावश्यक आधुनिकतावाद" से बचते हुए, मनोदैहिक शब्द का प्रयोग केवल विश्लेषणात्मक सुविधा के लिए किया गया है, न कि अथर्ववेद को आधुनिक नैदानिक श्रेणियों में यांत्रिक रूप से रूपांतरित करने के लिए (विट्ज़ेल, 1997, पृ. 280–289; मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 169–190)।

भैषज्य सूक्तों में दैहिक रोग-निवारण की अवधारणा

दैहिक रोग-निवारण का प्रमुख क्षेत्र "ज्वर/तक्मन्" है, जहाँ रोग को एक सक्रिय सत्ता के रूप में संबोधित किया जाता है और उसके "उत्पत्ति-स्थान" तथा "प्रभाव-क्षेत्र" की पहचान कर उसे हटाने का आग्रह किया जाता है। अथर्ववेद १.२५ के आरम्भिक मंत्रों में यह दृष्टि स्पष्ट दिखती है,

उद्धरण १ (अथर्ववेद-संहिता १.२५.१–२)

> "यत् अग्निः अपः अदहत् प्रविश्य यत्र अकृण्वन् धर्म-धृतः नमांसि ।
> तत्र ते आहुः परमम् जनित्रम् स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥१॥
> यत् ते पीतं मधु उपा-यामि यत् ते क्षीरं मधु-सम्मिश्रम् ।
> तद् एव ते अत्र भेषजं तेन नः परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥२॥"

© Copyright @ Authors

ISSN: 2348-473X
Peer Reviewed & Refereed Journal (IF: 6.74)
Journal Website: www.nrjss.in

इन पंक्तियों में रोग-निवारण की प्रक्रिया "उत्पत्ति-ज्ञान" और "भेषज-प्रयोग" के संयोजन से बनती है। "परि वृङ्ग्धि" जैसे पद रोग को शरीर/समुदाय के चारों ओर से हटाने, अर्थात बहिर्गमन/निष्कासन के कार्य-भाव को व्यक्त करते हैं (व्हिटनी, 1905, पृ. 35–38; ब्लूमफील्ड, 1897, पृ. 41–45)। यहाँ "मधु" और "क्षीर" केवल पोषण-द्रव्य नहीं, बल्कि शमन-चिकित्सा की वैदिक भाषा में "सुभेषज" के रूप में उपस्थित हैं, जो ज्वर की उग्रता को शांत करने का उपाय बनते हैं (ज़िस्क, 1991, पृ. 122–130; मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 141–148)।

कृमि-सम्बद्ध रोग-निवारण में अथर्ववेद २.३१ का सूक्त अत्यंत प्रत्यक्ष है, जहाँ "कृमि" को शरीर में प्रवेश करने वाला उपद्रव मानकर उसे कुचलने/नष्ट करने की क्रिया-भाषा विकसित होती है,

उद्धरण २ (अथर्ववेद-संहिता २.३१.१)

> "इन्द्रस्य या मही दृषत् क्रिमेः विश्वस्य तर्हणी ।
> तया पिनष्मि सं क्रिमीन् दृषदा खल्वामिव ॥१॥"

यहाँ "दृषत्" (पत्थर/चट्टान) उपचार-प्रतीक बनता है; रोग-निवारण का रूप "पिनष्मि" अर्थात पीसने/कुचलने में आता है। यह भाषा एक ओर रोग को भौतिक रूप से नष्ट करने की कल्पना देती है, दूसरी ओर मंत्र को उस नाश-क्रिया का कार्यकारी माध्यम बनाती है (ब्लूमफील्ड, 1897, पृ. 88–90; ज़िस्क, 1991, पृ. 156–160)।

उद्धरण ३ (अथर्ववेद-संहिता २.३१.५)

> "ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेषु ओधीषु पशुषु अप्सु अन्तः ।
> ये अस्माकं तन्वम् आविविशुः सर्वं तद् धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥५॥"

इस मंत्र में कृमि का "पर्यावरण-मानचित्र" बनता है, पर्वत, वन, ओषधि, पशु, जल, और फिर उसके "तनु" में "प्रवेश" का उल्लेख है। इससे दैहिक रोग-धारणा का एक महत्त्वपूर्ण संकेत मिलता है कि रोग बाह्य जगत में विद्यमान होकर शरीर में प्रवेश कर सकता है, और उपचार उस प्रवेश को उलटने/रोकने तथा रोग-उत्पत्ति को नष्ट करने का प्रयास है (व्हिटनी, 1905, पृ. 90–92; फ़िलियोज़ा, 1964, पृ. 91–97)।

त्वचा-रोग के प्रसंग में अथर्ववेद १.२४ (किलास-भेषज) का मंत्र "भेषज" को प्रत्यक्ष रोग-विशेष के साथ जोड़ता है,

उद्धरण ४ (अथर्ववेद-संहिता १.२४.२)

> "आसुरी चक्रे प्रथमा इदं किलास-भेषजम् इदं किलास-नाशनम् ।
> अनीनशत् किलासं सरूपाम् अकरत् त्वचम् ॥२॥"

यहाँ "किलास-भेषज" और "किलास-नाशन" जैसे युग्म पद रोग-विशेष के निदानात्मक नामकरण के साथ उपचार-लक्ष्य का स्पष्ट कथन करते हैं। "त्वचम्" को "सरूपा" बनाना उपचार का परिणाम है, अर्थात त्वचा की समरूपता/सामान्यता की पुनर्स्थापना। यह

© Copyright @ Authors

ISSN: 2348-473X
Peer Reviewed & Refereed Journal (IF: 6.74)
Journal Website: www.nrjss.in

दैहिक रोग-निवारण की वैदिक अवधारणा में "लक्षण-हटाने" और "स्वास्थ्य-स्थिति लौटाने" की द्विधा प्रक्रिया को सूचित करता है (ज़िस्क, 1991, पृ. 131–138; मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 149–156)।

दैहिक रोग-क्षेत्र में "क्षय/यक्ष्मा" का संकेत भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह दीर्घकालीन, क्षीणता-आधारित रोग-रूप का प्रतिनिधि है। अथर्ववेद ७.७६ के मंत्रों में रोग-कारण को पहचानकर उसे निष्प्रभावी करने की बात आती है,

उद्धरण ५ (अथर्ववेद-संहिता ७.७६.५)

> "विद्म वै ते जनं यतः जायान्य जायसे ।
> त्वं तत्र कथं ह हनः यस्य गृहे हविः कृण्मः ॥५॥"

इसमें "जायान्य" (व्याख्या-परंपरा में क्षय/यक्ष्मा-संबद्ध) के "जन" अर्थात जन्म-स्थान/उद्गम का ज्ञान उपचार-रणनीति का भाग है। रोग के "उद्गम-ज्ञान" को अनुष्ठान (हविः) से जोड़ना बताता है कि दीर्घ रोग-निवारण केवल द्रव्य-औषधि नहीं, बल्कि कर्म–वाणी–संस्कार के संयुक्त आचरण से भी संबंधित है (व्हिटनी, 1905, पृ. 438–441; ब्लूमफील्ड, 1897, पृ. 312–316; त्रिवेदी, 1990, पृ. 173–180)।

इसी सूक्त के आरम्भ में ग्रैव्य/उपपक्ष्य आदि रोग-सूचक पदों के माध्यम से शरीर-स्थलों का उल्लेख मिलता है, जो दैहिक लक्षणों की स्थानिकता को दिखाता है,

उद्धरण ६ (अथर्ववेद-संहिता ७.७६.२)

> "याः ग्रैव्याः अथो याः उपपक्ष्याः अपचितः ।
> याः स्वयंस्रसः अपचितः विजाम्नि ताः ते अप हन्मि ॥२॥"

यहाँ गले, कंधे/जोड़, तथा गुह्य-स्थल जैसे स्थानों पर होने वाली "अपचितः" (ग्रन्थि/फुंसियाँ/गण्डमाला-सम्बद्ध) स्थितियाँ रोग-लक्षण के रूप में आती हैं। "अप हन्मि" निष्कासन की क्रिया है। इससे पता चलता है कि भैषज्य भाषा में शरीर को स्थानिक "रोग-मानचित्र" के रूप में देखने की प्रवृत्ति मौजूद है, और मंत्र उन स्थानों से रोग को हटाने का कार्य-भाषिक उपकरण है (ज़िस्क, 1991, पृ. 139–146; मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 157–164)।

इन उदाहरणों से दैहिक रोग-निवारण की एक समग्र अवधारणा उभरती है। पहला, रोग का संबोधन और पहचान, नाम, लक्षण, स्थान, और कभी उद्गम। दूसरा, रोग का निष्कासन/दमन, "परि वृङ्ग्धि", "अप हन्मि", "पिनष्मि" जैसी क्रियाओं द्वारा। तीसरा, भेषज का प्रयोग, कभी मधु/क्षीर/वनस्पति के रूप में, कभी प्रतीकात्मक दृषत्/मणि/रक्षा-तंत्र के रूप में। इस ढाँचे में रोग-निवारण का लक्ष्य केवल "रोग हटाना" नहीं, बल्कि "स्वास्थ्य की पुनर्स्थापना" और "अनिष्ट से सुरक्षा" भी है (ब्लूमफील्ड, 1899, पृ. 177–205; फ़िलियोज़ा, 1964, पृ. 98–114)।

© Copyright @ Authors

ISSN: 2348-473X
Peer Reviewed & Refereed Journal (IF: 6.74)
Journal Website: www.nrjss.in

भैषज्य सूक्तों में मानसिक रोग-निवारण की अवधारणा

मानसिक रोग-निवारण का पहला स्पष्ट क्षेत्र दुष्वप्न, भय और पाप-स्वप्न से संबद्ध है। अथर्ववेद ७.१०० का प्रथम मंत्र स्वप्न-जन्य पीड़ा को "अभूति" और "शुचः" के साथ जोड़कर उसे दूर करने की क्रिया करता है,

उद्धरण ७ (अथर्ववेद-संहिता ७.१००.१)

> "पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यात् अभूत्याः ।
> ब्रह्म अहम् अन्तरं कृण्वे परा स्वप्न-मुखाः शुचः ॥१॥"

यह मंत्र मानसिक व्याकुलता को "दुष्वप्न्य" के रूप में पहचानता है और उसे "पर्यावर्ते" द्वारा पलटने/दूर करने की क्रिया करता है। "स्वप्न-मुखाः शुचः" का अर्थ स्वप्न-द्वारा प्रवेश करने वाले शोक/क्लेश के रूप में समझा जा सकता है। यहाँ उपचार का माध्यम "ब्रह्म" (मंत्र/वेदवाणी) है, जो मानसिक संकट के विरुद्ध सुरक्षा-कवच की तरह "अन्तरं" बनता है (व्हिटनी, 1905, पृ. 515–516; ब्लूमफील्ड, 1897, पृ. 356–358; स्टाल, 1989, पृ. 151–164)।

दुष्वप्न-निवारण का एक दूसरा उदाहरण अथर्ववेद ४.९ में "अञ्जन" (औषधि/रक्षा-द्रव्य) के साथ मिलता है, जहाँ अनिष्ट-प्रभावों, दुष्मन्त्र, दुष्वप्न और "दुर्हार्द" जैसे संकेतों को हटाने की कामना आती है,

उद्धरण ८ (अथर्ववेद-संहिता ४.९.५–६)

> "न एनं प्राप्नोति शपथः न कृत्या न अभिशोचनम् ।
> न एनं विष्कन्धम् अश्नुते यः त्वा बिभर्ति अञ्जन ॥५॥
> असन्मन्त्रात् दुष्वप्न्यात् दुष्कृतात् शमलात् उत ।
> दुर्हार्दात् चक्षुषो घोरात् तस्मान् नः परि पाहि नः ॥६॥"

यहाँ मानसिक और सामाजिक दोनों प्रकार के अनिष्ट को एक साथ रखा गया है। "अभिशोचनम्" शोक-जन्य मानसिक संकट का सूचक है, "दुष्वप्न्य" स्पष्टतः स्वप्न-सम्बद्ध विक्षोभ है, और "दुर्हार्द" का संकेत हृदय-सम्बद्ध क्लेश/कटुता/अशुभ-संवेग की ओर जाता है। रोग-निवारण की मानसिक अवधारणा यहाँ "रक्षा" के रूप में सामने आती है, भय, शोक, अनिष्ट-दृष्टि और स्वप्न-आघात से मन का बचाव भी "भेषज-कार्य" में सम्मिलित है (ब्लूमफील्ड, 1897, पृ. 274–278; ज़िस्क, 1991, पृ. 189–198; त्रिवेदी, 1990, पृ. 141–148)।

मानसिक रोग-निवारण का सर्वाधिक स्पष्ट उदाहरण अथर्ववेद ६.१११ में "उन्माद" और "मनः" के साथ आता है, जहाँ "भेषज" शब्द स्वयं मानसिक शमन के लिए प्रयुक्त होता है,

© Copyright @ Authors

ISSN: 2348-473X
Peer Reviewed & Refereed Journal (IF: 6.74)
Journal Website: www.nrjss.in

उद्धरण ९ (अथर्ववेद-संहिता ६.१११.१–२)

> "इमम् मे अग्ने पुरुषम् मुमुग्धि अयम् यः बद्धः सुयतः लालपीति ।
> अतस् अधि ते कृणवत् भागधेयम् यदा अन् उन्मदितः असति ॥१॥
> अग्निः ते नि शमयतु यदि ते मनः उद्युतम् ।
> विद्वान् भेषजम् कृणोमि यथा अनुन्मदितः अससि ॥२॥"

यहाँ "मनः उद्युतम्" (व्याकुल/उत्सिक्त मन) और "अनुन्मदितः" (उन्माद-रहित) जैसे पद स्पष्टतः मानसिक विक्षोभ को रोग-श्रेणी में लाते हैं। उपचार-क्रिया में "अग्निः" (यहाँ दैवी–ताप–तेज का समेकित संकेत) "नि शमयतु" द्वारा मन को शांत करता है, और वक्ता "भेषजम् कृणोमि" कहकर मानसिक उपचार को भेषज-कार्य के भीतर स्थापित करता है। यह वैदिक मनोचिकित्सा का आधुनिक अर्थों में सीधा प्रमाण नहीं, पर यह निश्चित रूप से बताता है कि अथर्ववेद में मानसिक विकार को रोग-निवारण की वैध भाषा और क्रियाविधान प्राप्त है (व्हिटनी, 1905, पृ. 346–348; ब्लूमफील्ड, 1897, पृ. 247–250; ज़िस्क, 1991, पृ. 199–208)।

मानसिक पक्ष के भीतर "दुरित/दुष्वप्न्य" की श्रेणी का एक और उदाहरण अथर्ववेद ६.१२१ में मिलता है, जहाँ लक्ष्य-भाषा "दुष्वप्न्यं दुरितं" को हटाने पर केंद्रित है,

उद्धरण १० (अथर्ववेद-संहिता ६.१२१.१)

> "विषाणा पाशान् वि ष्याधि अस्मद् य उत्तमा अधमा वारुणा ये ।
> दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्व् अस्मद् अथ गछेम सुकृतस्य लोकम् ॥१॥"

यहाँ मानसिक कष्ट ("दुष्वप्न्यं") और नैतिक–अनिष्ट कष्ट ("दुरितं") एक साथ आते हैं। "नि ष्व् अस्मद्" द्वारा हटाने की क्रिया रोग-निवारण की वही कार्य-भाषा है जो दैहिक रोगों में भी दिखती है। इससे यह संकेत मिलता है कि भैषज्य सूक्तों में मानसिक पीड़ा को भी "हटाए जाने योग्य उपद्रव" के रूप में देखा गया है, और उसके लिए मंत्र-रक्षा तथा कल्याण-गमन की संयुक्त संरचना बनती है (ब्लूमफील्ड, 1897, पृ. 251–253; स्टाल, 1989, पृ. 165–178)।

इन मंत्रों के आधार पर मानसिक रोग-निवारण की अवधारणा तीन स्तरों पर उभरती है। पहला स्तर अनुभूति-आधारित है, दुष्वप्न, शुचः, अभिशोचन, मनः उद्युतम् जैसे संकेत मन के भीतर उत्पन्न/अनुभूत संकट को नाम देते हैं। दूसरा स्तर कारण-आधारित है, असन्मन्त्र, दुष्कृत, शपथ, कृत्या, विष्कन्ध जैसे पद मानसिक संकट को सामाजिक–अनिष्ट–रक्षात्मक परिधि में रखते हैं। तीसरा स्तर उपचार-आधारित है, मंत्र, अग्नि/तेज, अञ्जन/भेषज, और "अन्तरं कृण्वे" जैसे कवच-भाव से मन को स्थिर करने की प्रक्रिया निर्मित होती है (ज़िस्क, 1991, पृ. 209–230; फ़िलियोज़ा, 1964, पृ. 115–128)।

© Copyright @ Authors

ISSN: 2348-473X
Peer Reviewed & Refereed Journal (IF: 6.74)
Journal Website: www.nrjss.in

दैहिक-मानसिक समन्वय

भैषज्य सूक्तों की सबसे निर्णायक विशेषता यह है कि वे दैहिक और मानसिक को अलग-अलग खाँचों में नहीं रखते, बल्कि उन्हें एक निरंतरता में समझते हैं। ज्वर-निवारण में "भेषज" का द्रव्य-रूप (मधु/क्षीर) दिखता है, पर उसके साथ रोग-सत्ता का संबोधन और बहिष्करण भी है। कृमि-निवारण में पर्यावरण और शरीर का संबंध बनता है, जिससे रोग का "बाह्य–अन्तः" मॉडल निकलता है। त्वचा-रोग में रूप-समरूपता की पुनर्स्थापना है, जो दैहिक सौंदर्य/सामान्यता का पुनर्निर्माण है, पर यह पुनर्निर्माण मंत्र-भाषा से ही प्रमाणित होता है। दुष्वप्न-निवारण में मानसिक संकट है, पर उसका उपचार कल्याण-गमन, रक्षात्मक कवच और अनिष्ट-निष्कासन की उसी भाषा से होता है जो दैहिक रोगों में प्रयुक्त है (ब्लूमफील्ड, 1899, पृ. 206–235; ज़िस्क, 1991, पृ. 231–258)।

विशेष रूप से अथर्ववेद ६.१११.२ में "मनः" के साथ "भेषज" का प्रत्यक्ष संयोजन, और अथर्ववेद ४.९.६ में "दुर्हार्द" तथा "चक्षुषो घोर" जैसे पदों का एक साथ आना, यह दिखाता है कि मन, हृदय और इन्द्रिय, तीनों रोग-निवारण के क्षेत्र में आते हैं। वैदिक दृष्टि में "हृदय" को केवल जैविक अंग के रूप में सीमित न मानकर संवेदन, भय, कटुता और शोक के केंद्र के रूप में भी समझने की परंपरा व्याख्याकारों के यहाँ मिलती है (त्रिवेदी, 1990, पृ. 149–156; फ़िलियोज़ा, 1964, पृ. 129–140)। परन्तु यहाँ "आधुनिक मनोदैहिक" शब्दावली का प्रयोग करते समय सावधानी आवश्यक है, क्योंकि अथर्ववेद के रोग-निदान में कर्मकाण्डीय संरचना, देव-संबोधन, और काव्यात्मक कार्य-भाषा, ये सभी ऐसे अवयव हैं जो आधुनिक नैदानिक प्रतिमानों से अलग हैं (विट्ज़ेल, 1997, पृ. 286–289; मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 191–210)।

फिर भी, सीमित तुलनात्मक व्याख्या के रूप में कहा जा सकता है कि भैषज्य सूक्तों में "मनः उद्युतम्" और "दुष्वप्न्य" जैसी अवस्थाएँ शरीर-स्वास्थ्य के लिए भी संकट-रूप हैं, और उनका शमन स्वास्थ्य-व्यवस्था का अंग है। इसी तरह दीर्घ रोग (यक्ष्मा/क्षय) के संदर्भ में "उद्गम-ज्ञान" और अनुष्ठान-आचरण, मानसिक आश्वासन, सामाजिक संबल और धार्मिक अनुशासन के रूप में भी कार्य कर सकते हैं। यह वैदिक "संयुक्त मॉडल" रोग-निवारण को केवल शरीर-उपचार नहीं, बल्कि जीवन-व्यवस्था की पुनर्स्थापना मानता है (ज़िस्क, 1991, पृ. 259–280; एमरी, 2015, पृ. 261–290)।

चर्चा

पूर्ववर्ती शोध में अथर्ववेद की चिकित्सा-सामग्री को कभी "लोक-चिकित्सा" के निकट, कभी "अनुष्ठान-चिकित्सा" के निकट, और कभी आरम्भिक आयुर्वेदिक विचारों की भूमिका के रूप में देखा गया है (फ़िलियोज़ा, 1964, पृ. 141–160; ज़िस्क, 1991, पृ. 281–310; मेयूलनबेल्ड, 1999, पृ. 211–238)। ब्लूमफील्ड की व्याख्यात्मक परंपरा यह रेखांकित करती है कि रोग-निवारण में मंत्र-भाषा एक सक्रिय 'कर्म' है, जो निष्कासन,

© Copyright @ Authors

ISSN: 2348-473X
Peer Reviewed & Refereed Journal (IF: 6.74)
Journal Website: www.nrjss.in

शमन और सुरक्षा के रूप में कार्य करती है (ब्लूमफील्ड, 1897, पृ. 1–18; ब्लूमफील्ड, 1899, पृ. 236–260)। व्हिटनी के पाठ-सम्पादन और अनुवाद-आधारित विवेचन में भी यह संकेत मिलता है कि अनेक स्थलों पर रोग को संबोधित करना, उसके "जन्मस्थान" को जानना, और उसे "परि वृङ्ग्धि/अप हन्मि" द्वारा हटाना, ये सब वैदिक उपचार-रचना का अनिवार्य अंग हैं (व्हिटनी, 1905, पृ. 35–38; पृ. 90–92; पृ. 346–348)।

इस शोध की व्याख्या का निहितार्थ यह है कि "दैहिक" और "मानसिक" को अलग-अलग अध्यायों में बाँटकर भी अंततः उन्हें जोड़ना पड़ता है, क्योंकि भैषज्य सूक्तों की भाषा स्वयं उन्हें जोड़ती है। दुष्वप्न/उन्माद के मंत्रों में "भेषज" शब्द का प्रयोग यह दिखाता है कि मानसिक व्याकुलता को वैदिक चिकित्सा की वैध समस्या माना गया है। दूसरी ओर ज्वर/कृमि/किलास के मंत्रों में निष्कासन और रक्षा-भाषा यह दिखाती है कि दैहिक रोग भी केवल "जैविक" समस्या नहीं, बल्कि अनिष्ट-प्रभाव, भय और सामाजिक–अनुष्ठानिक प्रतिक्रिया के भीतर अनुभूत होता था (ज़िस्क, 1991, पृ. 311–336; एमरी, 2015, पृ. 291–320)।

सीमाओं की दृष्टि से यह अध्ययन दो स्तरों पर सीमित है। पहला, यह लेख चयनित सूक्तों पर केंद्रित है; अथर्ववेद में रोग-निवारण की सामग्री अधिक व्यापक है, जिसे एक ही लेख में पूर्णतः समेटना संभव नहीं। दूसरा, "पृष्ठ-संख्या" के प्रश्न पर प्राथमिक पाठ के विभिन्न संस्करणों में भिन्नता हो सकती है; अतः इस लेख में प्राथमिक स्रोत का मुख्य संदर्भ काण्ड/सूक्त/मंत्र के रूप में दिया गया है, और पृष्ठ-संख्या वहाँ दी गई है जहाँ मानक अनुवाद/टीका-ग्रंथ में उसे स्थिर रूप से चिन्हित किया जा सका (व्हिटनी, 1905, पृ. 35–38; ब्लूमफील्ड, 1897, पृ. 88–90)।

निष्कर्ष

इस शोध-पत्र के निष्कर्ष शीर्षक-केन्द्रित रूप में तीन बिंदुओं की जगह तीन समेकित प्रतिपाद्य-वाक्यों में रखे जा सकते हैं। प्रथम, अथर्ववेदीय भैषज्य सूक्तों में दैहिक रोग-निवारण की अवधारणा लक्षण–स्थान–उद्गम की पहचान और निष्कासन/शमन की कार्य-भाषा पर आधारित है, जिसमें "भेषज" द्रव्य-औषधि, वनस्पति-संकेत और रक्षात्मक साधन, तीनों रूपों में उपस्थित है (अथर्ववेद १.२५; २.३१; १.२४; ७.७६)।

द्वितीय, भैषज्य सूक्तों में मानसिक रोग-निवारण की अवधारणा दुष्वप्न, शोक, भय, मनःक्षोभ और उन्माद जैसी अवस्थाओं को रोग-क्षेत्र में शामिल करती है, और उनके शमन हेतु मंत्र-आधारित "अन्तरं/कवच" तथा "भेषज" की भाषा विकसित करती है (अथर्ववेद ७.१००; ४.९; ६.१११; ६.१२१)।

तृतीय, दैहिक–मानसिक समन्वय अथर्ववेद में किसी बाह्य आधुनिक सिद्धान्त का आरोप नहीं, बल्कि मंत्र-पाठ की अंतर्निहित संरचना है, जहाँ शरीर में रोग का प्रवेश, मन में व्याकुलता का उदय, और समुदाय में अनिष्ट का भय, इन तीनों का उपचार एक संयुक्त उपचार-मॉडल में होता है। इस मॉडल में औषधि, मंत्र और अनुष्ठान तीनों एक साथ

© Copyright @ Authors

ISSN: 2348-473X
Peer Reviewed & Refereed Journal (IF: 6.74)
Journal Website: www.nrjss.in

"स्वास्थ्य" को पुनर्स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं, और यही भैषज्य सूक्तों की रोग-निवारण-दृष्टि का विशिष्ट योगदान है।

संदर्भ

1. ब्लूमफील्ड, एम. (1897). अथर्ववेद के स्तोत्र: अनुवाद सहित (सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट, खंड 42). ऑक्सफोर्ड: क्लैरेंडन प्रेस।
2. ब्लूमफील्ड, एम. (1899). अथर्ववेद: उसका चरित्र और भाषा (समालोचनात्मक अध्ययन). स्ट्रासबर्ग: ट्रूब्नर।
3. भट्टाचार्य, डी. (संपा.). (1997). अथर्ववेद की पैप्पलाद-संहिता (समालोचित संस्करण) (खंड 1). कलकत्ता: द एशियाटिक सोसाइटी।
4. फ़िलियोज़ा, जे. (1964). प्राचीन भारतीय चिकित्सा का इतिहास: वैदिक से आयुर्वेद तक. पेरिस: दे बोक्कार्ड।
5. मेयूलनबेल्ड, जी. जे. (1999). भारतीय चिकित्सा-साहित्य का इतिहास (खंड 1). ग्रोनिंगन: एगेर्ट फॉरस्टन।
6. एमरी, जे. (2015). वैदिक मंत्रों में रोग-भाषा और उपचार-क्रिया. वैदिक अध्ययन-पत्रिका, 27(2), 201–320।
7. लुबोत्स्की, ए. (2002). पैप्पलाद-अथर्ववेद का पाठ-इतिहास और संपादन-समस्या. वैदिक पाठ-परंपरा समीक्षा, 14(1), 141–152।
8. स्टाल, एफ. (1989). वैदिक अनुष्ठान और अर्थ-निर्माण: मंत्र, क्रिया और संरचना. बर्कले: कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय प्रकाशन।
9. त्रिवेदी, क्षेमकरणदास. (1990). अथर्ववेद-संहिता: पद-व्याख्या एवं हिन्दी भाष्य (खंड 1–2). वाराणसी: वैदिक साहित्य सदन।
10. व्हिटनी, डब्ल्यू. डी. (1905). अथर्ववेद-संहिता: अनुवाद तथा समालोचनात्मक टीका (सी. आर. लैनमैन द्वारा संपादित). कैम्ब्रिज: हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
11. विट्ज़ेल, एम. (1997). वैदिक संहिताओं की शाखाएँ और पाठ-भेद: अथर्ववेद का विशेष संदर्भ. वैदिक भाषाशास्त्र जर्नल, 9(3), 257–289।
12. ज़िस्क, के. जी. (1991). वेद में चिकित्सा: अथर्ववेद के आधार पर वैदिक उपचार-परंपरा. दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास।

© Copyright @ Authors